पुराने प्रेमचंद के ज़रिये नया पाठ

हिंदी की साहित्यिक संस्कृति और आधुनिकता

चंदन श्रीवास्तव

प्रेमचंद पुराने हैं, इतने पुराने तो निश्चित ही कि हम उनकी रचनाओं की शतवार्षिकी मना सकें। लेकिन, पुराना होना मात्र 'साधुता' की कसौटी नहीं— परीक्षा ज़रूरी है। 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्'। हिंदी भाषा के भीतर चलने वाली साहित्य की 'आधुनिकता' की बहसें अपने ख़ास अंदाज़ में याद दिलाती हैं कि *मालविकाग्निमित्रम्* का सूत्रधार ऐसा आगाह कर गया है। सो, प्रेमचंद पुराने हैं तो उनकी कृतियों की परीक्षा के प्रयास भी कम पुराने नहीं।

प्रेमचंद के अध्येता जानते हैं कि शिवदान सिंह चौहान ने मार्च, 1937 (प्रेमचंद की मृत्यु : 1936) के अपने लेख में उनके रचना-कर्म की 'प्रगतिशीलता' की चर्चा की थी। तब से ले कर अब तक प्रेमचंद को बुद्धि-विवेक की कसौटी पर 'कलम का सिपाही' के रूप में पढ़ा गया है और 'कलम का मज़दूर' के रूप में भी। मूल्यांकन के लिए रचनाकार को नहीं, उसकी रचनाओं के परिवेश को देखा जाना चाहिए और सबसे ज़्यादा देखा जाना चाहिए रचनाकार के युग को आविष्ट करने वाली चेतना को— इस तर्क से हिंदी साहित्य की समालोचना की आँख ने 'प्रेमचंद और उनका युग' तक पर नज़र डाली है। ऐसे प्रयासों से प्रेमचंद के रचना-कर्म में 'साधु-असाधु' खोजने की सिद्ध कसौटियाँ बन गयी हैं, और अब यानी इक्कीसवीं सदी के दूसरे दशक में यह अपेक्षित ही है कि बीसवीं सदी
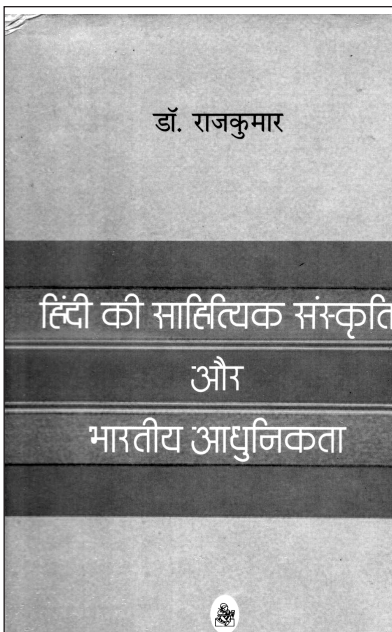
हिंदी की साहित्यिक संस्कृति और भारतीय आधुनिकता
डॉ. राजकुमार
पृष्ठ : 171, मूल्य : 400 रु. (सजिल्द)
राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नयी दिल्ली

के आरम्भ से अपने लेखन की शुरुआत करने वाले प्रेमचंद की कृतियों की समालोचना की सिद्ध कसौटियों पर सवाल उठाए जाएँ। सो, सवाल खूब उठाए जा रहे हैं।

मिसाल के लिए हिंदी साहित्य की अंदरूनी बहसों को अपने पन्ने पर ख़ास जगह देने वाले अखबार *जनसत्ता* के पन्ने पर 2013 में जुलाई से सितम्बर महीने के बीच प्रेमचंद को लेकर चले वाद-विवाद को देखा जा सकता है। ख़ुर्शीद अनवर ने 11 अगस्त 2013 के अपने 'प्रेमचंद को साम्यवादी बनाने की क़वायद' शीर्षक लेख में कहा कि 'प्रेमचंद को साम्यवादी घोषित करना उसी तरह से है जैसे जवाहर लाल नेहरू को गाँधी से अलग कर उन पर लाल बिल्ला लगा दिया जाय।' प्रेमचंद को साम्यवादी ठहराने की कोशिशों की परीक्षा करते हुए ख़ुर्शीद अनवर ने अपने लेख में ध्यान दिलाया कि बेशक यह पंक्ति प्रेमचंद की है कि 'धन्य है वह सभ्यता जो मालदारी और व्यक्तिगत सम्पत्ति का अंत कर रही है और जल्दी ही या देर से दुनिया उसका पदानुसरण करेगी', लेकिन प्रेमचंद को साम्यवादी ठहराने के लिए इतना कहना काफ़ी नहीं। लेख में अनवर का सवाल था कि 1936 में हुए प्रगतिशील लेखक संघ के अधिवेशन में जहाँ एक ओर हसरत मोहानी जैसे व्यक्ति ने कम्युनिस्ट विचारों के प्रचार-प्रसार की बात की, वहीं प्रेमचंद ने अपने भाषण में एक बार भी ऐसा कोई वक्तव्य नहीं दिया। क्या कोई उसकी वजह बता सकता है? अनवर का निष्कर्ष था कि 'प्रेमचंद को महान कथाकार रहने देने में हम सबका भला है। साहित्य समाज के आगे चलने वाली मशाल हमेशा ही रहेगा, इसके लिए प्रेमचंद का साम्यवादी होना जरूरी नहीं है।'

अनवर के इस लेख पर प्रेमचंद के साहित्य के मशहूर अध्येता कमल किशोर गोयनका ने लिखा कि लेख के शीर्षक ('प्रेमचंद को साम्यवादी बनाने की क़वायद') में 'क़वायद' की जगह 'साज़िश' शब्द का इस्तेमाल ज़्यादा अच्छा होता, क्योंकि प्रेमचंद द्वारा स्थापित-सम्पादित *हंस,* जनवरी, 1936 में प्रकाशित एक लेख का शीर्षक है 'लंदन में भारतीय साहित्यकारों की एक नई संस्था', जिसमें लिखा है कि मुल्कराज आनंद, के.एस. भट्ट, जे.सी. घोष, एस. सिन्हा, एम.डी. तासीर और एस.एस. ज़हीर ने लंदन में 'दि इण्डियन प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन' की बुनियाद डाली, लेकिन डॉक्टर रामविलास शर्मा (मार्क्सवादी आलोचक) ने लिखा है कि नींव प्रेमचंद ने डाली, और इस प्रकार इस झूठ को इतना विस्तार दिया गया कि प्रेमचंद प्रगतिशील लेखक संघ के संस्थापक बना दिये गये।' मार्क्सवाद से प्रेमचंद के अलगाव को दिखाने के लिए गोयनका ने तर्क दिया कि 'प्रेमचंद ने *हंस* के उसी अंक में लंदन से आया घोषणापत्र भी प्रकाशित किया है। इसमें एक भी शब्द, एक भी उद्देश्य का संबंध मार्क्सवाद से दूर तक नहीं है। इस घोषणापत्र में चार प्रमुख उद्देश्य हैं— सांस्कृतिक और सामाजिक उत्थान, भारतीय स्वाधीनता, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और इण्डो-रोमन लिपि की स्वीकृति। प्रेमचंद ने अंतिम को अस्वीकार करते हुए लिखा कि शेष तीन तो उनके आदर्श ही रहे हैं, पर इनमें कहीं भी मार्क्सवाद नहीं है और स्पष्ट है कि प्रेमचंद ने समर्थन इसलिए किया कि वे तीस-पैंतीस वर्षों से इन्हीं उद्देश्यों को लेकर चल रहे थे और वे स्वराज और भारतीय आत्मा की रक्षा के ही उपकरण थे।'

खुद कमल किशोर गोयनका ने क्या 'आप इस प्रेमचंद को जानते हैं' (*जनसत्ता,* 28 जुलाई, 2013) शीर्षक अपने लेख में प्रेमचंद की नैतिकता और आधुनिकता की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए उनकी कहानी 'बालक' की ओर ध्यान दिलाते हुए लिखा था कि इसका 'अशिक्षित नायक विवाह के छह महीने बाद उत्पन्न बच्चे को इस तर्क से स्वीकार करता है कि मैंने एक खेत ख़रीदा था, उस पर किसी ने फ़सल बोई ही थी तो क्या वह फ़सल मेरी नहीं होगी ।' प्रेमचंद की कहानियों के नैतिक-भाव की श्रेष्ठता और आधुनिकता-बोध की इस प्रशंसा पर दलित-चिंतक धर्मवीर ने अपने लेख 'हम प्रेमचंद को जानते हैं' (4 अगस्त, 2013) में सवाल उठाया। धर्मवीर ने लिखा कि 'गोयनका और उनके प्रेमचंद ने यह बात एक बार भी नहीं सोची कि 'बालक' कहानी में पैदा संतान किस राष्ट्र की रक्षा के लिए अपने प्राण न्यौछावर करेगी। क्या राष्ट्रवादी होने में यह जानना ज़रूरी नहीं कि बच्चा अपने वास्तविक पिता को जाने? जैविक पिता से भिन्न वैवाहिक पिता की फ़र्ज़ीगीरी राष्ट्रवाद नहीं है। ऐसे समाज में शूरवीर पैदा नहीं हुआ करते।'

अस्मितापरक आंदोलन की वैचारिकी के भीतर प्रेमचंद की छवि किन रंग-रेखाओं से उकेरी जा रही है उसका एक बेहतर उदाहरण रत्नकुमार साँभरिया का आलेख 'दलित, प्रेमचंद, तुलसीदास और शहीद भगतसिंह' हो सकता है। लेख में प्रेमचंद के शब्द-संसार की चुनिंदा पंक्तियों के आधार पर साबित किया गया है कि वे 'ग्राम्य जीवन और लोक परम्पराओं से नितांत अनभिज्ञ थे। वे घोर ईश्वरवादी, भाग्यवादी और वर्णवादी थे तथा छुआछूत और जातपाँत में उनका अटूट विश्वास था। ...प्रेमचंद-साहित्य में श्लीलता का प्राय: अभाव है और इनकी भाषा में लियाक़त नहीं होने के कारण पाठक के मन को कचोटती है। विशेषत: दलितों के बारे में वे जिस भाषा-शैली का प्रयोग करते हैं, वह हृदय ही चीर डालती है। बावजूद इसके मार्क्सवादी सोच का यह मानना है कि प्रेमचंद ने उस समय दलितों के बारे में लिखा जब लोग उनकी छाया से भी दूर भागते थे। क्या यह तर्क इस दायरे में नहीं आता कि कोई किसी अछूत को थप्पड़ लगा दे और यह तर्क दे कर उसकी प्रशंसा की जाए कि देखो, उसने अछूत को छुआ तो सही, दूसरे लोग तो उसकी छाया से भी दूर भागते हैं।'

साँभरिया का निष्कर्ष है कि 'प्रेमचंद-साहित्य में न दलित नेतृत्व है, न दलित-चरित्र। उनकी रचनाओं के कथानक धर्मशास्त्रों के सूक्तों से ऊपर नहीं उठ पाए हैं। शास्त्र, जो अपने अंतस में पूर्वग्रह समाए होने के कारण शूद्रों के लिए 'शस्त्रों से भी ज़्यादा मारक साबित हुए हैं, प्रेमचंद की कलम 'शास्त्र बनाम शस्त्र' के गिर्द घूमती है।'

वाद-विवाद के उपर्युक्त प्रसंगों को नज़र में रखें तो संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रेमचंद के साहित्य को परखने की सिद्ध कसौटियाँ प्रश्नांकित की जा रही हैं, अगर साहित्य की समालोचना की किन्हीं कसौटियों के तहत यह बताया गया था कि प्रेमचंद के साहित्य में आधुनिक भाव-बोध के अनुकूल राष्ट्र और व्यक्ति दोनों ही के मुक्ति के प्रसंग हैं तो अब गंगा एकदम ही उल्टी बहती दिख रही है। प्रेमचंद को 'कलम का सिपाही' और 'कलम का मज़दूर' से लेकर 'सामंत का मुंशी' बनाने तक की यह कहानी पहली नज़र में विचारोत्तेजक जान पड़ सकती है लेकिन वाद-विवाद में समाए आवेग को एक तरफ़ करके देखें तो स्पष्ट होगा कि प्रेमचंद के साहित्य को लेकर बना पक्ष और प्रतिपक्ष एक ही विचार-सरणी (आधुनिकता की परियोजना) का साझीदार है और इसकी पद्धति (प्रेमचंद के साहित्य से उद्धरणों का सुविधाजनक चयन) भी एक ही है। पक्ष और प्रतिपक्ष के पास व्यक्ति, समुदाय और राष्ट्र की मुक्ति को लेकर एक तयशुदा निष्कर्ष है और प्रेमचंद के साहित्य का पाठ इस तयशुदा निष्कर्ष के अनुकूल पड़ते उद्धरणों के चयन के आधार पर किया गया है। समीक्ष्य पुस्तक *हिंदी की साहित्यिक संस्कृति और भारतीय आधुनिकता* अपने-अपने मुक्ति-प्रसंग के अनुकूल प्रेमचंद की मूर्ति गढ़ने और तोड़ने की कोशिशों का संज्ञान लेने, इस कोशिश की मूल प्रस्थापनाओं को प्रश्नांकित करने और अपनी तरफ़ से प्रेमचंद के ज़्यादा तथ्यसंगत और इतिहासबद्ध अध्ययन का

प्रस्ताव करने के कारण महत्त्वपूर्ण है।

समीक्ष्य रचना में प्रेमचंद से आपकी भेंट साहित्यकार, पत्रकार या स्वाधीनता-सेनानी के रूप में नहीं बल्कि एक 'चिंतक' के रूप में होती है। इसकी वजह भी लेखक की नज़र में बहुत स्पष्ट है और इसे पुस्तक के प्राक्कथन में इस तरह बताया गया है कि आधुनिकता के साथ पूँजीवाद, उपनिवेशवाद, राष्ट्रवाद, विज्ञान, तर्कबुद्धि और लोकतंत्र का विकास जुड़ा हुआ है और आधुनिकता की कोई बहस मार्क्स को दरकिनार कर आगे नहीं बढ़ाई जा सकती तथा भारतीय आधुनिकता की कोई भी परिकल्पना गाँधी के बग़ैर अधूरी है। चूँकि हिंदी की साहित्यिक संस्कृति को इन विभूतियों के चिंतन का लाभ मिलता रहा है, इसलिए हिंदी की साहित्यिक मेधा ने आधुनिकता के पश्चिमी महाआख्यान को आँख मूँद कर नहीं अपनाया। उसने आधुनिकता की कुछ बातें मानीं, तो कुछ से इनकार किया और प्रेमचंद के लेखन में इस बात के पर्याप्त साक्ष्य मिलते हैं। इसलिए 'प्रेमचंद सरीखे चिंतक को आधुनिकता के प्रोजेक्ट के समर्थन में नि:शेष कर देने के बजाय उन बिंदुओं पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है जहाँ ये आधुनिकता की सख़्त आलोचना करते हैं। वस्तुत: हिंदी की साहित्यिक संस्कृति (या संस्कृतियाँ) को समझना प्रकारांतर से इस प्रक्रिया की समग्रता, विशिष्टता और अपनी सभ्यता की आंतरिक गतिकी को भी समझना है।'

प्राक्कथन के इस अंश से स्पष्ट हो जाता है कि उसमें चर्चा मुख्य तौर से भारतीय आधुनिकता की ही की गयी है। प्रेमचंद की चर्चा 'हिंदी की साहित्यिक संस्कृति' के पुनर्पाठ के मक़सद से हुई है। इस पुनर्पाठ के क्रम में ही पुस्तक में प्रेमचंद का एक चिंतक के रूप में विशिष्ट योगदान रेखांकित करते हुए हिंदी की साहित्यिक संस्कृति की वर्चस्वशील धाराओं को प्रश्नांकित किया गया है। सवाल उठता है कि साहित्यिक संस्कृति से क्या समझें और इसके पुनर्पाठ की प्रविधि क्या हो? समीक्ष्य पुस्तक में फ्रेडरिक जेमसन के हवाले से लिखा मिलता है कि 'साहित्यिक संस्कृतियाँ ऐसे कोड के रूप में सामने आती हैं जिनके बारे में हम प्राय: भूल चुके होते हैं। वे एक ऐसी बीमारी के लक्षण की तरह हैं जिसे हम बीमारी के रूप में पहचानते ही नहीं। वे समग्रता के एक टुकड़े की तरह हैं जिसे देख सकने वाला अंग हम पहले ही खो चुके हैं। ये साहित्यिक रचनाएँ, सामाजिक यथार्थ को निर्मित करने वाली दूसरी वस्तुओं की तरह पुकार रही हैं कि हम उनकी टीका व्याख्या करें, उनका अर्थ करें, उनकी पहचान करें साहित्यिक आलोचना का यह दायित्व है कि वह अंतर्बाह्य अस्तित्व और इतिहास की तुलना जारी रखे।'

लिहाज़ा समीक्ष्य पुस्तक के लेखक ने अपने लिए कठिन दायित्व चुना है, क्योंकि साहित्यिक संस्कृति अगर समग्रता का वह टुकड़ा हो जिसे देख सकने वाला अंग पहले ही खो चुका है, या फिर वह ऐसी बीमारी का लक्षण हो जिसकी बीमारी के रूप में पहचान ही न हो, तो फिर सवाल उठेगा कि सामाजिक यथार्थ का निर्माण करने वाली इस ज़रूरी चीज़ को जानने के लिए साहित्यिक आलोचना कौन-से औज़ार अपनाए? लेखक ने ध्यान दिलाया है कि 'औपनिवेशिक वर्चस्व के दौरान उपनिवेशित सभ्यता ऐसी विस्मृति का शिकार होती है कि अपनी सभ्यता के कोडों की उपनिवेशवाद द्वारा की गयी व्याख्या को ही थोड़े बहुत हेर-फेर के साथ स्वीकार कर लेती है।' इस स्वीकार के लक्षण समीक्ष्य पुस्तक के लेखक को प्रेमचंद के मूल्यांकन को लेकर बनी कसौटियों और उन कसौटियों को प्रश्नांकित करने वाले हाल के अस्मितापरक प्रयासों में दिखते हैं।

पुस्तक के लेखक के मुताबिक़ अकारण नहीं है कि प्रेमचंद का अध्ययन प्राय: आधुनिकता द्वारा स्वीकृत और राजनीतिक दृष्टि से सही मुद्दों के आधार पर किया गया है। इसी कड़ी में प्रेमचंद को कालक्रमानुसार देखने और किसी एक कालखंड की रचनाओं को स्थापित समझ के क़रीब पड़ने के कारण विशेष तरजीह दी गयी। जैसे प्रेमचंद के अंतिम दौर की रचनाओं को मार्क्सवादी विद्वानों ने ज़्यादा महत्त्व दिया क्योंकि उनके अनुसार प्रेमचंद इस दौर में लगभग मार्क्सवादी हो गये थे। इस तरह

के अध्ययन की 'विडम्बना यह है कि वह यह मान कर चलता है कि सच क्या है यह उसे पहले से मालूम है। इस सच के समर्थन में एक गवाह के रूप में पेश करने के लिए वह प्रेमचंद को ठोक पीट कर अपने सच के अनुरूप ढालने की कोशिश करता है। यानी प्रेमचंद स्वयं में महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। महत्त्वपूर्ण है वह सच जो उसे पहले से मालूम है। यह प्रेमचंद का रिडक्शन है। पहले से ज्ञात सच में प्रेमचंद के रचनात्मक अवदान को हज़म कर लेने की कोशिश है।'

सवाल उठता है कि प्रेमचंद के मार्क्सवादी अध्येताओं को कौन सा सच पहले से पता है जिसमें प्रेमचंद को रिड्यूस किया जा रहा है? यहाँ बात आती है प्रेमचंद की भारत-विषयक परिकल्पना की। समीक्ष्य पुस्तक के मुताबिक़ प्रेमचंद एक ऐसे भारत की कल्पना करते हैं जो पश्चिम से तात्त्विक और बुनियादी रूप से भिन्न है। वामपंथी ऐसी भिन्नता की कल्पना नहीं कर सकते थे क्योंकि 'वामपंथ के सार्वभौम महाआख्यान में भिन्नता के लिए ख़ास जगह नहीं थी। भिन्नता का मतलब उनके लिए विशिष्टता नहीं, कमी थी, जो उन्हें भारत के इतिहास में दिखाई पड़ती थी। पश्चिम के तर्ज़ पर भारत के इतिहास में पुनर्जागरण, ज्ञानोदय, राष्ट्रवाद, औद्योगिक क्रांति, व्यक्तिवाद वग़ैरह की आपेक्षिक अनुपस्थिति देख उनके 'करुणाकलित हृदय' में आह सी उठती थी और फिर वे इस शोध में जुट जाते थे कि क्या कारण (अर्थात् कमी थी) थे जिनकी वजह से हमारे यहाँ। ... कुल मिलाकर भारत के अतीत-इतिहास गर्व करने लायक़ उन्हें कुछ ख़ास नज़र नहीं आता था। मार्क्स की तरह उन्हें भी लगता था कि शैतान को भी उसका जायज़ हक़ मिलना ही चाहिए। सदियों से चली आ रही अर्थव्यवस्था को नष्ट कर उपनिवेशवाद ने भारतीय इतिहास को पटरी पर ला दिया। भारत को इतिहास के राजपथ पर घसीट लाने का सेहरा उपनिवेशवाद के माथे बाँध देने के बाद उपनिवेशवाद का एक प्रगतिशील पक्ष तो निकल आया, लेकिन इसी के साथ भारत के इतिहास की विशिष्टता का महत्त्व समझने वाली दृष्टि भी ग़ायब हो गयी। लुब्बेलुबाब यह कि उपनिवेशवाद आया तो भारत की जड़ता टूटी और पूँजीवाद का विकास शुरू हुआ। पूँजीवाद आ गया तो देर-सबेर समाजवाद आना ही है। यह सोचने की ज़हमत नहीं उठाई गयी कि सभ्यताओं के विकासक्रम और जीवन-मूल्य एक जैसे नहीं होते।'

अस्मितावादी आंदोलन की वैचारिकी के भीतर प्रेमचंद के मूल्यांकन के प्रयासों को लेकर भी समीक्ष्य पुस्तक यही कमी देखती है। पुस्तक अस्मितावादी वैचारिकी की इस विडम्बना की ओर ध्यान दिलाती है कि ज़मींदारी व्यवस्था ख़त्म कर किसानों में ज़मीन बाँटने और बिना किसी भेदभाव के सभी को समान नागरिकता देने

प्रेमचंद को 'कलम का सिपाही' और 'कलम का मज़दूर' से लेकर 'सामंत का मुंशी' बनाने तक की यह कहानी पहली नज़र में विचारोत्तेजक जान पड़ सकती है लेकिन वाद-विवाद में समाए आवेग को एक तरफ़ करके देखें तो स्पष्ट होगा कि प्रेमचंद के साहित्य को लेकर बना पक्ष और प्रतिपक्ष एक ही विचार-सरणी (आधुनिकता की परियोजना) का साझीदार है और इसकी पद्धति (प्रेमचंद के साहित्य से उद्धरणों का सुविधाजनक चयन) भी एक ही है। पक्ष और प्रतिपक्ष के पास व्यक्ति, समुदाय और राष्ट्र की मुक्ति को लेकर एक तयशुदा निष्कर्ष है और प्रेमचंद के साहित्य का पाठ इस तयशुदा निष्कर्ष के अनुकूल पड़ते उद्धरणों के चयन के आधार पर किया गया है।

का काम उपनिवेशवाद ने नहीं राष्ट्रवाद ने किया। लेकिन दलित चिंतकों को औपनिवेशिक शासन के सिवा बाक़ी सभी वर्णवादी लगते हैं— 'एकतरफ़ा प्रेम में बौराये इन बेचारों को यह भी नहीं पता कि औपनिवेशिक शासक इनके बारे में क्या सोचते हैं। उल्लेखनीय है कि औपनिवेशिक शासक सफ़ेद नस्ल को सर्वश्रेष्ठ मानते थे। सभी भारतीय उनकी दृष्टि में हीन प्रजाति के थे। इन हीनों में सवर्ण बेहतर थे क्योंकि वे पतित आर्य थे, दलित तो पतित आर्य भी नहीं थे। वे निकृष्टतम प्रजाति के थे। हिंदी में इन दिनों प्रगतिशीलता का एक नया ढब निकला है। इस ढब के मुताबिक़ उपनिवेशवाद भारत के लिए और विशेष रूप से दलितों के लिए वरदान था। दलितों का उद्धार करने के लिए ही अंग्रेज़ों ने भारत को उपनिवेश बनाया था। बुरा हो राष्ट्रवादियों का जिन्होंने उन्हें ज़्यादा दिन टिकने नहीं दिया। वे देर से आये और जल्दी चले गये !...'

प्रेमचंद के मूल्यांकन की कसौटियों में पैबस्त औपनिवेशिक ज्ञानकांड के रग-रेशे दिखाते हुए उसके बरअक्स पुस्तक में पर्याप्त साक्ष्यों के साथ प्रेमचंद की पश्चिम के प्रति अवधारणा का रेखांकन किया गया है। इसी क्रम में पश्चिमी राष्ट्रवाद के बारे में प्रेमचंद के सोच और भारतीय राष्ट्रवाद से उसकी भिन्नता के बारे में विचार किया गया है। फिर भारतीय राष्ट्रवाद की इकाइयों, शहर-नागरिक समाज, गाँव (पारम्परिक सामुदायिकता) और गाँव में भी दलित और स्त्री के बारे में प्रेमचंद के विचारों की चर्चा है। इस चर्चा से बड़ी हद तक पुस्तक की मूल स्थापना सिद्ध हो जाती है कि 'प्रेमचंद सरीखे चिंतक को आधुनिकता के प्रोजेक्ट के समर्थन में निःशेष कर देने के बजाय उन बिंदुओं पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है जहाँ ये आधुनिकता की सख़्त आलोचना करते हैं। वस्तुतः हिंदी की साहित्यिक संस्कृति (या संस्कृतियाँ) को समझना प्रकारांतर से इस प्रक्रिया की समग्रता, विशिष्टता और अपनी सभ्यता की आंतरिक गतिकी को भी समझना है।'

इतिहास को विवेचना का विषय बनाने वाली कुछ पुस्तकें करुणा के भाव से लिखी होती हैं, कुछ सात्विक क्रोध से। न्याय की भावना दोनों ही पुस्तकों की प्रेरक होती है, लेकिन इस भाव का निर्वाह दोनों में अलग-अलग होता है। करुणा के भाव से लिखी पुस्तकों में प्रिय के खो जाने का मलाल नहीं होता, बल्कि स्वीकृति होती है। ऐसी पुस्तकों में ज़ोर अपने खोये या अधूरे पाए हुए को भरपूर ब्योरे के साथ बताने पर होता है। कोई चीज़ खो गयी या अधूरी हासिल है तो इसकी वजहें क्या रहीं— ऐसी खोज करुणा भाव से लिखी किताबों में प्रधान नहीं होती। इतिहासकार सुधीर चंद्र की पुस्तक *गाँधी-एक असम्भव सम्भावना* करुणा के भाव से लिखी पुस्तक का एक अच्छा उदाहरण हो सकती है। सात्विक क्रोध से लिखी पुस्तकों में किसी चीज़ के खोने या अधूरा हासिल होने का मलाल बहुत मुखर होता है और उसके कारणों की खोज बड़ी प्रखर। ज़ोर अपने खोये या हासिल को महीन ब्योरे में बताने पर कम हो जाता है और कारणों की खोज पर ज़्यादा। किसी प्रिय चीज़ के खो जाने या उसके अधूरे रूप में हासिल होने की ज़ाहिर वजह के साथ सात्विक क्रोध से लिखी पुस्तकें बहुत ज़्यादा जिरह करती हैं। सो, खोज ली गयी वजहों के साथ लेखक की हमदर्दी नहीं बन पाती और इसका एक घाटा होता है— जिन बातों को किसी चीज़ के खो जाने या अधूरा हासिल होने की वजह के रूप देखा जा रहा है उनके दोष बड़े प्रखर होकर उभरते हैं, अगर कोई गुण है तो वह दब जाता है। समीक्ष्य पुस्तक भी सात्विक क्रोध से लिखी गयी है और उसमें दोष-विवेचन जितना प्रखर है, गुणों की चर्चा या कह लें कि उनके साथ मुठभेड़ की कोशिश कम है।

मिसाल के लिए, समीक्ष्य पुस्तक के लेखक के इस विचार से इनकार नहीं किया जा सकता कि मार्क्स ने भारत के पुराने समाज को इतिहास-धारा से वंचित माना है और अंग्रेज़ी शासन को वह शक्ति जिसने अपनी तमाम बर्बरता के बावजूद भारत को इतिहास (या कह लें आधुनिकता) के प्रगति-पथ पर लगा दिया। भारतीय स्वाधीनता संग्राम या फिर आधुनिक भारत के इतिहास-लेखन का उपक्रम एक हद तक इस विचार का साझीदार होने के कारण औपनिवेशिक ज्ञानकांड (लेखक के शब्दों में

पश्चिम की आधुनिकता) से मुक्त नहीं है। लेकिन विचार के इस बिंदु तक पहुँचने के बाद यह सोचा जा सकता है कि क्या किन्हीं कमियों के बावजूद प्रेमचंद के लेखन को समझने में मार्क्सवादी मीमांसा किसी हद तक सहायक हो सकती है?

यह अलग से कोई प्रश्न नहीं बल्कि पुस्तक के प्रधान कथ्य के तार्किक विस्तार से जुड़ा सवाल है। मसलन, समीक्ष्य पुस्तक में प्रेमचंद को गाँधी से प्रभावित माना गया है और गाँधी के चिंतन में उन्नीसवीं सदी के चिंतक भूदेव मुखोपाध्याय के विचार की अनुगूँज सुनी गयी है। पुस्तक ध्यान दिलाती है कि 'गाँधी जैसी दृढ़ता के साथ आधुनिकता की ज्ञानमीमांसात्मक परम्परा को चुनौती देने वाला कोई नहीं दिखता।' लेकिन बंगाल में अरविंद और विवेकानंद के पहले से पश्चिम अर्थात् आधुनिकता की मूलभूत आलोचना शुरू हो गयी थी। साक्ष्य के रूप में भूदेव मुखोपाध्याय के ग्रंथ *सामाजिक प्रबंध* का एक लम्बा हिस्सा उद्धृत किया गया है जिसमें आता है कि 'सभ्यताओं के उद्देश्य और उनकी प्राथमिकताएँ एक जैसी नहीं होतीं, इसलिए उनकी तुलना नहीं की जा सकती। तुलना सभी को स्वीकार्य सार्वभौम निकष पर ही सम्भव है और यह निकष मनुष्य की प्रेम करने की क्षमता का क्रमिक विस्तार हो सकता है। पहले व्यक्ति और फिर व्यक्ति से आगे बढ़ते हुए इस दायरे में परिवार, समुदाय, राष्ट्र और अंततः समूचा ब्रह्मांड आना चाहिए। लेकिन पश्चिमी संस्कृति में यह राष्ट्र पर आकर रुक जाती है। हिंदू धर्म के सार्वभौम प्रेम की तुलना में यह मनुष्यता के लिए हीनतर लक्ष्य है।'

चूँकि पुस्तक में प्रेमचंद के राष्ट्र-विषयक चिंतन को गाँधी और उनसे भी पहले भूदेव मुखोपाध्याय द्वारा की गयी सभ्यता समीक्षा से जोड़ कर देखा गया है, इसलिए यहाँ ठहर कर सोचा जा सकता है कि क्या मार्क्सवादी समीक्षा की कोई युक्ति प्रेमचंद के लेखन में आये राष्ट्रवाद और भारतीय संस्कृति की धारणा की समझ को ज़्यादा पैना बनाने में सहायक हो सकती है? तनिक थम कर सोचें तो लगेगा कि इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में भी हो सकता है। जैसे मार्क्सवादी तर्ज़ की समीक्षा यह बता सकती है कि 'खेतिहर समुदाय त्यागी-संन्यासी जान पड़ने वाले नेताओं की तरफ़ विशेष आकर्षित होता है। इसका ख़ास रिश्ता सिर्फ़ हिंदू धर्म से ही नहीं है। गाँधी में जो त्याग-भाव है, वह उनके निजी दर्शन की देन है और इस दर्शन में निश्चित ही हिंदू धर्म का भी योग है तथा कुछ ऐसा ही हो ची मिन्ह, मुज़फ़्फ़र अहमद या पी.सुंदरैया में दिखाई देता है, लेकिन त्याग-भाव से किसी नेता के भीतर जो साख पैदा होती है सिर्फ़ वही भर किसान को लामबंद करने के लिए काफ़ी नहीं होती। यह अनिवार्य तो है लेकिन पर्याप्त नहीं, और इसके पर्याप्त होने के लिए ज़मीनी हालात (मैटेरियल कंडीशन) अनुकूल होने चाहिए। एक ख़ास सहायक कारण जिसकी वजह से किसान उठ खड़े हुए और उनके संघर्ष ने उपनिवेशविरोधी संघर्ष का रूप लिया, ग्रेट डिप्रेशन कहलाने वाली महामंदी है। महामंदी का एक महत्त्वपूर्ण घटक खेतिहर संकट भी है। किसानों की लामबंदी को सम्भव बनाने के लिए कांग्रेस ने अवाम के आगे भारत के भविष्य के बारे में एक ब्लूप्रिंट रखा। यह काम कांग्रेस के कराची अधिवेशन (1931) में हुआ। इसमें सार्वभौम मताधिकार, हर भारतीय नागरिक को एक सुनिश्चित जीवन-स्तर फ़राहम करने, अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा, जाति-धर्म और लिंग की अपेक्षाओं से परे कानून के समक्ष बराबरी का दर्जा देने और धर्म से राजसत्ता के अलगाव की बात कही गयी।' (यह अंश पेरी एंडरसन की पुस्तक *द इण्डियन आयडियालॉजी* की *ईपीडब्ल्यू* में प्रकाशित प्रभात पटनायक कृत समीक्षा में आता है)।

प्रेमचंद कांग्रेस के सक्रिय कार्यकर्ता नहीं थे लेकिन कांग्रेस के साथ उनकी सहानुभूति हमेशा रही। वे गाँधी-भाव से सदा सन्नद्ध रहे लेकिन आलोचना तो उन्होंने अपने इस महात्मा की भी की है। और, जैसा कि इतिहासकार सुधीर चंद्र ने प्रेमचंद विषयक अपने एक पुराने लेख ('प्रेमचंद : अ हिस्टोरियोग्राफ़िक व्यू') में कहा है— 'वे उन बाध्यताओं को देख सकते थे जिसके भीतर कांग्रेस को उसके नेताओं के वर्गीय हितों की वजहों से काम करना पड़ता था, तो भी उन्होंने 'कांग्रेस की अपनी

आलोचना को ऐसा साज-सँवार दिया कि वह कांग्रेस के कार्यक्रमों की संगति में जान पड़े।' अगर इतिहासकार सुधीर चंद्र की बात ठीक है तो फिर प्रभात पटनायक का उपर्युक्त उद्धरण *प्रेमाश्रम* (1922) में आये किसान-सभा के ज़िक्र से लेकर *कर्मभूमि* (1932) के सत्याग्रह तक की व्याख्या में सहायक साबित हो सकता है।

यही बात समीक्ष्य पुस्तक में अस्मितावादी आदोलन की वैचारिकी के दायरे में हुए प्रेमचंद के मूल्यांकन को लेकर उठाए गये प्रश्नों के बारे में भी सोची जा सकती है। अंग्रेज़ी-राज भारतीयों के लिए स्मृति-नाश और जीवन-नाश दोनों का कारण साबित हुआ और इस दोहरे नाश का शिकार भारत-भूमि का हर समाज हुआ और दलित कहीं और ज़्यादा शिकार हुए— समीक्ष्य पुस्तक के लेखक के इस मंतव्य से इंकार नहीं किया जा सकता। अंग्रेज़ी राज में पौने दो सौ बरसों में जितने अकाल पड़े और भारत-भूमि के आम जन काल-कवलित हुए वैसा मुगलों या उसके पहले के भारत में न हुआ था। कुछ पुस्तकों (जैसे माइक डेविस की पुस्तक *लेट विक्टोरियन होलोकॉस्ट्स: एल निनो फेमाइंस ऐंड मेकिंग ऑफ़ दि थर्ड वर्ल्ड*) में दर्ज तथ्य बताते हैं कि 1770 से 1890 के बीच के एक सौ बीस साल के वक़्फ़े में भारत में इकतीस बड़े अकाल पड़े थे और उसके पहले के पूरे दो हज़ार सालों में सत्रह। इन बड़े अकालों का संबंध जितना जलवायुगत परिस्थितियों से है उससे बहुत-बहुत ज़्यादा अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद से है। अकेले 1769-1770 में ही, कम्पनी की लूट और मौसम के प्रकोप ने मिल कर, बंगाल की एक तिहाई आबादी को भुखमरी और मौत के मुँह में धकेल दिया था। यह सिलसिला दूसरे महायुद्ध के दौरान 'प्रगतिशील' अंग्रेज़ी राज द्वारा पैदा किये गये 'बंगाल के अकाल' तक जारी रहा। ख़ुद अंग्रेज़ी राज की रपटों में लिखा मिलता है कि इन अकाल में काल-कवलित होने वालों में अस्सी प्रतिशत आबादी वंचित वर्ग के लोगों की थी। ज़ाहिर है, आज की राजनीतिक शब्दावली में 'दलित' कहलाने वाली जातियों के लिए अपनी नस्ली श्रेष्ठता के पैमाने पर उन्हें 'हीन से भी हीनतर' क़रार देने वाला औपनिवेशिक ज्ञानकाण्ड मृत्यु के सामूहिक आयोजन से कमतर न था। लिहाज़ा, अगर कोई कहे कि 'अंग्रेज़ देर से आये और जल्दी चले गये' तो उसके इस अफ़सोस पर रोष या अचरज जायज़ है।

लेकिन बात यहीं तक रुक नहीं जाती। अगर 'अंग्रेज़ों के देर से आने और जल्दी जाने' का अफ़सोस कम्पनी-राज की लूट की पहचान के बाद भी मौजूद और मुखर है, उसे स्वीकृति भी हासिल है तो फिर इसके कारणों की खोज ज़रूरी है— ख़ासकर यह खोजना कि इस अफ़सोस का स्रोत नैतिकता की किस वैचारिकी में है और क्या वह वैचारिकी 'भारतीय आधुनिकता' की प्रचलित समझ को किसी कोण से ज़्यादा समग्र बनाने में मददगार हो सकती है? यहाँ उदाहरण के तौर लाहौर (जात-पाँत तोड़क मण्डल) वाले मशहूर भाषण पर महात्मा गाँधी और आम्बेडकर के बीच चली बहस की चर्चा की जा सकती है।

महात्मा गाँधी ने जाति की संस्था के विरुद्ध आम्बेडकर के भाषण की मूल बातों के प्रतिवाद में जो कुछ लिखा उसका सार संक्षेप कुछ यों हो सकता है कि '1. हिंदू धर्म विकासशील है, उसका कोई एक और स्थायी ग्रंथ नहीं; 2. जो तर्क की कसौटी पर खरी न उतरे और जिसे आध्यात्मिक प्रयोग में ना लाया जा सके उसे ईश्वर की वाणी नहीं माना जा सकता; 3. धर्मग्रंथ का अनिवार्य व्याख्याता कोई विद्वान नहीं हो सकता। धर्म विद्वानों से नहीं साधु-संतों और उनके जीवन एवं कथन पर चलता है; 4. हिंदू धर्म का सार है कि सत्य ही ईश्वर और अहिंसा मानव-परिवारों का क़ानून है; 5.धर्म को उसके सबसे बुरे उदाहरणों से नहीं, बल्कि सबसे अच्छे उदाहरणों से परखा जाना चाहिए।' इन बातों के पल्लवन के बाद महात्मा का आम्बेडकर से सवाल था कि 'क्या चैतन्य, ज्ञानदेव, तुकाराम, तिरुवल्लूर, रामकृष्ण परमहंस, राजा राममोहन राय, महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर, विवेकानंद और अन्य विद्वानों द्वारा सिखाया धर्म पूरी तरह से ग़लत है, जैसा कि डॉ. आम्बेडकर ने अपने भाषण में दिखाया है?

महात्मा गाँधी द्वारा किये गये प्रतिवाद में आये उपर्युक्त वाक्य महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि यही वह ब्लूप्रिंट है जिसके दायरे में हिंदू धर्म-परम्पराओं के किसी पक्ष (जैसे कि निर्गुण भक्ति और उससे जुड़ी वैष्णवी परम्परा) को आधुनिक भाव-बोध के अनुकूल बता कर कहा जाता है कि अंग्रेज़ ना आते तो भी अपनी इतिहास-धारा के अनुकूल भारतीय मनीषा व्यक्ति के सत्य और मुक्ति के इहलौकिक विचार तक पहुँच ही जाती। दरअसल आम्बेडकर इस सोच का प्रतिवाद करते हुए उसमें कुछ जोड़ते हैं। गाँधी के प्रतिवाद के जवाब में आम्बेडकर लिखते हैं, 'महात्मा ने प्रश्न उठाया है कि 'चैतन्य, ज्ञानदेव, तुकाराम, तिरुवल्ललुर, रामकृष्ण परमहंस द्वारा ज्ञापित धर्म गुणरहित नहीं हो सकता' जैसा कि मैंने बताया है और ये कि किसी भी धर्म को सबसे ख़राब नमूने से नहीं बल्कि सबसे अच्छे परिणाम से परखना होगा। मैं इस वक्तव्य के प्रत्येक शब्द से सहमत हूँ, लेकिन मैं इस वक्तव्य से बिल्कुल नहीं समझ पाया कि महात्मा इससे क्या सिद्ध करना चाहते हैं। यह सत्य है कि धर्म को सबसे ख़राब नमूने से नहीं बल्कि सबसे अच्छे से परखना चाहिए। लेकिन क्या मामला यहीं समाप्त हो जाता है? मैं कहता हूँ नहीं। प्रश्न अब भी उठता है कि सबसे ख़राब इतने अधिक क्यों हैं, और सबसे अच्छे इतने थोड़े से क्यों।'

आगे महात्मा गाँधी के प्रतिवाद के बुनियादी दोष पर अँगुली रखते हुए आम्बेडकर लिखते (और इस लिखे से उत्तर मिल जाता है कि धर्म के सबसे अच्छे उदाहरण इतने कम क्यों) हैं, 'महात्मा ने तर्क दिया है कि संतों के उदाहरण को अपनाएँ तो हिंदू धर्म सहनीय हो जाएगा, महात्मा का यह तर्क भी अन्य कारण से ग़लत सिद्ध होता है। चैतन्य जैसे सुविख्यात संत का नाम लेकर मोटे और सबसे सरल तरीक़े से महात्मा सुझाव देना चाहते हैं कि ढाँचे में मूलभूत परिवर्तन किये बिना हिंदू समाज सहनीय और खुशहाल हो सकता है। ... जो इस बात पर निर्भर हैं कि वे बड़ी जाति के हिंदू को एक अच्छा इंसान बनाएँगे तथा व्यक्तिगत चरित्र सुधारेंगे, वे मेरे विचार से अपनी शक्ति बरबाद कर रहे हैं और एक भ्रम पाले हुए हैं। क्या व्यक्तिगत चरित्र शस्त्र बनाने वाले को एक अच्छा आदमी बना सकता है, अर्थात् जो आदमी गोला बेचता है, वह ऐसा गोला बनाए जो न फटे और गैस ज़हर न फैलाए? ... सच बात तो यह है कि हिंदू अपनी जाति के बाहर वाले व्यक्ति को पराया मानता है। कहने का मतलब है कि बेहतर या बदतर हिंदू मिल सकता है लेकिन एक अच्छा हिंदू नहीं मिल सकता। ऐसा इसलिए नहीं कि उसके व्यक्तिगत चरित्र में कोई कमी है। असल में, अपने साथियों के साथ उसके संबंध का आधार ही ग़लत है।'

अगर एक पंक्ति में कहें तो आम्बेडकर के उपर्युक्त कथन में यह ध्वनि सुनी जा सकती है कि व्यक्तिगत आचरण की सच्चाई

अंग्रेज़ी-राज भारतीयों के लिए स्मृति-नाश और जीवन-नाश दोनों का कारण साबित हुआ और इस दोहरे नाश का शिकार भारत-भूमि का हर समाज हुआ और दलित कहीं और ज़्यादा शिकार हुए ... 1770 से 1890 के बीच के ... अकालों का संबंध जितना जलवायुगत परिस्थितियों से है उससे बहुत-बहुत ज़्यादा अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद से। ... ख़ुद अंग्रेज़ी राज की रपटों में लिखा मिलता है कि इन अकाल में काल-कवलित होने वालों में अस्सी प्रतिशत आबादी वंचित वर्ग के लोगों की थी। ज़ाहिर है, ... 'दलित' कहलाने वाली जातियों के लिए ... औपनिवेशिक ज्ञानकाण्ड मृत्यु के सामूहिक आयोजन से कमतर न था। लिहाज़ा, अगर कोई कहे कि 'अंग्रेज़ देर से आये और जल्दी चले गये' तो उसके इस अफ़सोस पर रोष या अचरज जायज़ है।

और अहिंसा की कुछ उज्ज्वल परम्पराओं के कारण भारत-भूमि में प्राक्-आधुनिक संवेदना तो थी, लेकिन इस संवेदना को सबके लिए साकार करने वाला ढाँचा नहीं था। यह ढाँचा तो अंग्रेज़ों या कह लें पश्चिमी आधुनिकता की यांत्रिकी के एक रूप यानी 'विधि आधारित सेकुलर शासन व्यवस्था' ही ले आयी। सुदीप्त कविराज जब कहते हैं कि 'पॉलिटिक्स' शब्द का ठीक-ठीक समानार्थी शब्द भारतीय भाषाओं में नहीं है, तो दरअसल उनके कहे में आम्बेडकर द्वारा उठाए गये प्रश्न की ही एक अलग स्तर पर ध्वनि सुनाई देती है। राजनीति, ख़ासकर लोकतंत्रिक राजनीति (चाहे वह जितनी अधूरी हो) प्राक्-आधुनिक संवेदना वाले पुराने भारत के लिए एकदम ही नया अनुभव थी। सो, समीक्ष्य पुस्तक में आगे यह सोचने के लिए सवाल बनता है कि क्या 'अंग्रेज़ देर से आये, जल्दी चले गये' में जो अफ़सोस निहित है, वह कहीं पारम्परिक भारतीय आधुनिकता की प्रकट कमी (विधि आधारित राज-व्यवस्था) का संकेतक तो नहीं, कहीं इस अफ़सोस में इस बात की स्वीकृति तो नहीं कि आधुनिकता के पश्चिम प्रोजेक्ट में भारत ने अपनी तरफ़ से कुछ जोड़ा और घटाया तो पश्चिमी प्रोजेक्ट भी भारतीय आधुनिकता की संवेदना को सबके लिए साकार करने में मददगार हुआ। ऐसा सोचने का एक प्रस्थान बिन्दु आनंद कुमारस्वामी की पुस्तक *ऐसेज़ इन नेशनल आयडिलिज़म* में आया 'माता भारत' लेख हो सकता है। नयी-पुरानी आधुनिकता के आँगन में राष्ट्रवाद की भावमूर्ति तैयार होने की कहानी इस लेख में जिस महीनी और मार्मिकता से कही गयी है, वह विरल है।

समीक्ष्य पुस्तक तेरह निबंधों का संकलन है और सारे लेख प्रेमचंद-विशेष नहीं लेकिन पुस्तक का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा (कुल चार लम्बे लेख) प्रेमचंद के मूल्यांकन की समस्या से जूझते हैं। चूँकि पुस्तक में भारतीय आधुनिकता को ज़मीन बनाकर 'हिंदी की साहित्यिक संस्कृति' को समझने-बताने की कामयाब कोशिश की गयी है, सो पुस्तक की वैचारिकी का दायरा बड़ा हो जाता है। प्रेमचंद, *हिंद-स्वराज,* सिविलाइज़िंग मिशन, अंग्रेज़ी की जगह, हिंदी की शक्ति, हिंदी का जातीय संगीत, हिंदी साहित्य का इतिहास और साहित्य, इतिहास तथा स्वाधीनता जैसे विषयों को एक सूत्र में पिरोने की भरपूर गुंजाइश बन जाती है पुस्तक में। और, ठीक इसी गुंजाइश को देखते हुए उम्मीद की जा सकती है समीक्ष्य पुस्तक की सम्भावनाओं का विस्तार लेखक किसी अन्य पुस्तक में बड़े फ़लक पर करेंगे।